सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा

❑ सुरेश पण्डित

राजनीति की शैक्षिक फलश्रुति अथवा शिक्षा की राजनीति पर बहुत सारे शिक्षाविद् बात करना पसंद नहीं करते ; लेकिन क्या यथार्थ से आंखें मूंद लेने पर सच बदल जाता है ? मार्टिन कारनॉय विश्व साम्राज्यवाद और विकासशील देशों के मध्य शिक्षा के अन्तर्विरोधग्रस्त रिश्तों को जिस तरह से उठाते हैं, उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता । हाल ही में, हिन्दी में अनूदित कारनॉय की किताब इस लिहाज से खासी चर्चित हुई है । आजादी की अर्धशताब्दी के बाद भी भारतीय शिक्षा प्रणाली का सारतत्व औपनिवेशिक ही बना हुआ है - यह किताब इस समस्या को पूरी शिद्दत से सामने लाती है । बाजारवादी तंत्र के अग्रिम योद्धा विश्व बैंक द्वारा भारत में प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रयासों को मदद देने के उद्देश्य भी इससे स्पष्ट होते हैं ।

लोगों में यह धारणा गहराई तक पैठी हुई है कि समाज में अंधविश्वासों के शिकार प्राय: वे होते हैं जो निरक्षर, अज्ञानी अथवा मानसिक रूप से दुर्बल–अविकसित होते हैं । शिक्षितों को ज्ञानी तो माना ही जाता है, यह भी माना जाता है कि वे अपना प्रत्येक निर्णय स्वविवेक से पूरी तरह सोच समझ कर लेते हैं । लेकिन जब उच्च शिक्षित लोग भी गणेशजी की प्रतिमा द्वारा दूध पिये जाने की बात को न केवल सच मानने लगते हैं बल्कि स्वयं भी पुण्य लाभ एवं मनोकामना पूर्ति हेतु दुग्धपान कराने वाले लोगों की पंक्ति में खड़े दिखाई देते हैं तो मानना पड़ता है कि अन्धानुकरण को रोकने में शिक्षा से उत्पन्न की गई बौद्धिकता भी विशेष कारगर नहीं होती । लोगों की इस कमजोरी को ही पकड़ कर शातिर दिमाग वाले लोग ऐसे मनगढंत विचार जनता में फैलाने और उनसे लाभ उठाने में कामयाब हो जाते हैं जो यथार्थ से कोसों दूर होते हैं । मीडिया इस काम में उनकी भरपूर मदद करता है । पश्चिमी देशों ने इसकी उपयोगिता को बहुत पहले ही पहचान लिया था और इसके सहारे न केवल एशिया, अफ्रीका के देशों पर बरसों तक राज ही किया बल्कि उनके भौतिक संसाधनों का निर्ममता पूर्वक दोहन भी किया।

आज यद्यपि इन महाद्वीपों के अधिकतर देश स्वाधीन हो गये हैं लेकिन पश्चिम द्वारा प्रचारित मिथक इन्हें मानसिक पराधीनता से मुक्त नहीं होने दे रहे हैं । आजादी के पचास वर्ष बीत जाने के बाद भी भारत में अधिकतर बुद्धिजीवी पश्चिम द्वारा प्रचारित इस मिथक के शिकार हैं कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय जनता को न केवल आधुनिक ज्ञान विज्ञान से परिचित ही कराया बल्कि मध्यकालीन सामन्ती सोच से भी मुक्त करवाया और अन्तत: ब्रिटिश शासन से छुटकारा पा लेने की चेतना भी उसने ही विकसित की। किन्तु सुप्रसिद्ध अमीरीकी शिक्षा शास्त्री मार्टिन कारनॉय इस स्थापना को न केवल अस्वीकार करते हैं बल्कि उस पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा को ब्रिटिश शासकों ने अपने अस्तित्व को स्थायी बनाये रखने के लिये प्रचलित किया और इसके माध्यम से प्रदत्त ज्ञान का उपयोग अपने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को विस्तार देने के लिये किया । पश्चिमी शिक्षा के इस उपनिवेशित ज्ञान ने वर्ण और जाति पर आधारित भारतीय समाज में असमानता मूलक सोपानात्मक (हायरार्किकल) सामाजिक ढ़ांचे को जारी रखने में सहायता तो की ही, लोगों में अपनी भाषा व संस्कृति के प्रति हीनता बोध को जन्म देकर विकसित भी किया ।

भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति की रूपरेखा भारतीय उपमहाद्वीप पर राजनैतिक नियंत्रण कायम रखने के लिए तथा उसकी जनता को ब्रिटेन पर आर्थिक रूप से निर्भर रखने के लिये निश्चित की गयी थी। धीरे–धीरे अंग्रेजी शासन ने हमारी शिक्षा के पारम्परिक ढांचे को; जिसमें भेदभाव नहीं था, गुरू शिष्य संबंध पारिवारिक थे, जो खर्चीली नहीं थी, कर्म प्रधान थी, औपचारिकता विहीन थी, परिवेशान्मुख थी; तोड़ दिया और उसके स्थान पर यूरोपोन्मुखी एक वर्ग व्यवस्था खड़ी कर दी जिसका भारत को काफी मूल्य चुकाना पड़ा है । क्योंकि अंग्रजों के लिये भारत में विकास का मतलब भारतीय संसाधनों पर ब्रिटेन के लाभार्थ नियंत्रण था और तत्कालीन शिक्षा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये थी ।

अपने इस तर्क के समर्थन में कारनॉय हैरी कैली की 1925 में प्रकाशित एक पुस्तक – 'दि माडर्न स्कूल इन रिट्रोस्पेक्ट' का एक उद्धरण देते हैं –

''सार्वजनिक विद्यालय प्रणाली वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाने के लिये एक शक्तिशाली उपकरण है .... बच्चे

को शिक्षा दी जाती है ताकि वह सत्ता के सामने झुके । दूसरों की इच्छा के अनुसार काम करने की आदत डाले, परिणामत: उसके मन में कुछ ऐसी आदतें बन जाती हैं जिसका उसके वयस्क जीवन में शासक वर्ग लाभ उठाता है ।''

इस कथन के बारे में तीन बातें रेखांकित होती हैं (1)शिक्षा का सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाने के लिये उपयोग (2) सत्ता के सामने नतमस्तक रखने के लिए उपयोग (3) शासक वर्ग के लाभ हेतु उपयोग । अंग्रेजी शासकों ने इन तीनों बातों का उपयोग कर न केवल भारत में बल्कि अन्य देशों में भी अपना वर्चस्व काफी समय तक बनाये रखा । लार्ड ल्यूगार्ड ने तो 1922 में ही साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को अंग्रेज स्वाभिमान का प्रतीक घोषित करते हुए कहा था – ''हम इन देशों पर कब्जा इसलिये करते हैं क्योंकि उपनिवेशीकरण, व्यापार और शासन करना हमारी नस्ल की जन्मजात विशेषता है ।''

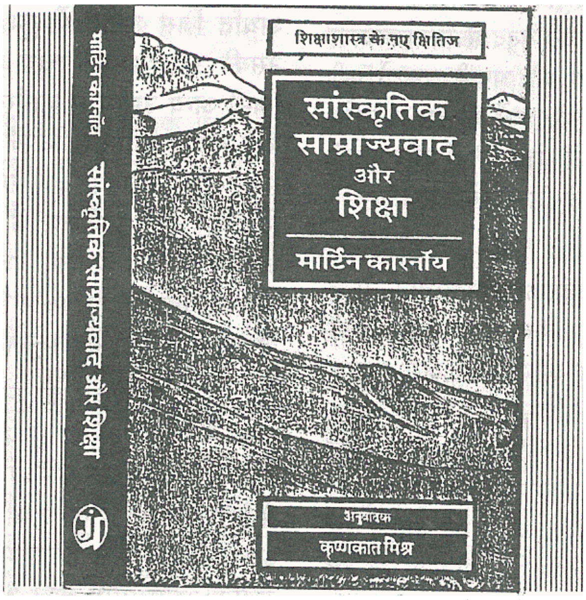

शिक्षा को उपनिवेशवाद के प्रसार का उपकरण बनाने की मनोवृत्ति को कारनॉय सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संज्ञा देते हैं । यदि शिक्षा के माध्यम, पाठ्यक्रम की संरचना, पाठ्यपुस्तकों की विषय वस्तु और शैक्षिक प्रशासन के ढांचे पर गहराई से दृष्टिपात करें तो लगता है कि यह संज्ञा पूरी तरह यथार्थपरक है। अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाना, अपनी जाति, देश और संस्कृति को सर्वोत्तम प्रतिपादित करना और सदियों पुराने शैक्षिक ढांचे को तोड़ केंद्रीकृत पिरामिडि प्रशासन के अधीन शिक्षा संस्थाओं को चालू करना, औपनिवेशिक शासन को स्थायी रखने के ही प्रच्छन्न प्रयत्न थे। आश्चर्य है आजादी की लड़ाई लड़ते समय शिक्षा पद्धति को बदल कर इसे अपने देश–परिवेश के अनुरूप ढालने और इसके लक्ष्य पुन: निर्धारित कर इसे कर्म प्रधान करने की जो कसम हमने खाई थी उसे आजाद होते ही हमने भुला दिया और उसी राह पर बढ़ते चले गये जिसकी हम कटु आलोचना किया करते थे ।

उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति के आगमन के साथ मनुष्य के सर्वांगीण विकास या व्यक्तित्व निर्माण की परम्परागत शास्त्रीय धारणा को पूंजी संचय सिद्धांत में बदल दिया गया और यह प्रचारित कर दिया गया कि जिस प्रकार मानवीय मस्तिष्क को अज्ञान से बुद्धिमत्ता में परिवर्तित किया जा सकता है उसी प्रकार मानवीय श्रम को अकुशल से कुशल में बदला जा सकता है , सामन्ती मनोवृत्ति को विवेकशील और प्रतिस्पर्धी बनाया जा सकता है तथा सामाजिक दृष्टि से खतरनाक व्यवहार को व्यवस्था के अनुकूल बनाया जा सकता है । इस मान्यता ने स्कूली शिक्षा को व्यक्ति के लिये बाजार में अपनी कीमत बढ़ाने का सोपान बना दिया और यह साबित कर दिया कि बिना इस सोपान पर आरूढ़ हुए उसकी स्थिति बाजार में तो अत्यल्प मूल्य वाली रहेगी ही, समाज में भी हेय रहेगी । इस प्रकार स्कूलों का काम सामाजिक परिवर्तन को नियंत्रित करना, व्यवस्था के नाम पर यथास्थिति बनाये रखना, अधिक भौतिक उत्पादन के लिये अधिक अच्छे श्रम आगतों को उत्पन्न करना तथा व्यक्तियों को प्रतियोगी पुरुषों–स्त्रियों में बदलना रह गया। यह सब इसलिये प्रायोजित किया गया ताकि वे पूंजीवादी व्यवस्था में न केवल विश्वास करें बल्कि उसे अधिकाधिक विकसित करने में अपना भरपूर योगदान भी दें ।

देखते देखते शिक्षा को मनुष्य के सर्वांगीण विकास से परे एक संसाधन के रूप में विकसित करने की ओर मोड़ दिया गया और शिक्षाविद्, स्कूल प्रबंधक तथा अध्यापक स्कूल के ज्ञानवर्धक कार्य पर जोर देने लगे । अब वे दावा करते हैं कि औपचारिक शिक्षा आजीवन शिक्षा प्रक्रिया का ही एक अंग है जो नवयुवकों को न केवल आवश्यक घटनाक्रमों की जानकारी देता है बल्कि सीखने की प्रक्रिया की समझ भी देता है । उद्योगपतियों की दृष्टि में स्कूली शिक्षा निरन्तर अधिक जटिल होने वाले प्रौद्योगिकी समाज में आर्थिक कार्यों के संपादन के लिये युवाओं को कौशल प्रदान करती है और नये प्रकार के आर्थिक संगठनों के लिये उन्हें योग्य बनाकर उनका समाजीकरण भी करती है । माता पिता और अन्तत: विद्यार्थी भी इसे उच्चतर आय और पद प्राप्त करने की कुंजी मानने लगे हैं और इसे प्रतियोगिता आधारित, सफलता उन्मुख अर्थव्यवस्था में कामयाबी की दिशा में एक कदम भी माना जाने लगा है । निर्धनों के लिये उपर्युक्त कारण विशेष रूप से निर्णायक समझा जाता है क्योंकि सामाजिक गतिशीलता ही उन्हें दरिद्रता से निकालकर उपभोक्ता समाज में प्रवेश दिला सकती है ।

धीरे–धीरे लेकिन सुनियोजित तरीके से यह भी प्रचारित किया गया कि यदि किसी राष्ट्र की अधिकांश जनता स्कूली शिक्षा से वंचित रहती है तो निश्चय ही वह असभ्य एवं अज्ञानी है और राष्ट्रों को यह विश्वास दिलाया गया कि वे सभ्य तभी माने जा सकते हैं जब वे शिक्षित हों और शिक्षा वही है जिसे पश्चिमी समाजों ने

परिभाषित किया है । सो अब राष्ट्र भी जान गये हैं कि स्कूली शिक्षा के विस्तार में धन निवेशित करना अपनी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना है और ऐसा करके वे प्रतियोगी उद्योगीकरण के बढ़ते विश्व के राष्ट्रों में अपना स्तर ऊँचा कर सकते हैं । अन्यायपूर्ण अनैतिक और आर्थिक रूप से जड़ समाजों के लिये शिक्षा ही एकमात्र ऐसा उपादान है जो व्यक्ति को निजी और सामाजिक मुक्ति की ओर अग्रसर कर सकता है ।

परन्तु कारनॉय अपनी पुस्तक 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा' में इस धारणा को भ्रामक बताते हुए जोर देकर कहते हैं कि पश्चिमी तर्ज की औपनिवेशिक शिक्षा अधिकांश देशों में मुक्ति का उपादान न बनकर केवल साम्राज्यवादी प्रभुत्व स्थापित करने और उसे स्थायित्व देने में सहायक बनी है । इसकी मदद से साम्राज्यवादी सत्ताओं ने अपने उपनिवेश के निवासियों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए प्रशिक्षित किया था । पश्चिमी राष्ट्रों की इस मनोवृत्ति को कारनॉय 'ज्ञान का उपनिवेशीकरण' की संज्ञा देते हैं और बताते हैं कि ऐसा ज्ञान समाज के सोपानात्मक ढांचे (हायरार्किकल स्ट्रक्चर) को निरन्तरता प्रदान करता है ।

ज्ञान प्राप्ति को क्रमबद्ध चरणों में बांटकर सोपानात्मक ढांचा खड़ा करने का उपक्रम पतनोन्मुख मध्य युग की कला की कीमियागिरी की देन है । मोरामिया के बिशप एमोस कोमोनियस जैसे स्वयंभू तर्कशास्त्री और शिक्षाविद् ही वह महान विभूति थे जिसने सबसे पहले आधुनिक स्कूल का प्रारूप दुनिया को दिया । कहते हैं उसने ही शिक्षा को सात या बारह सोपानों में बांटकर स्कूल को ज्ञान प्रदान करने का दायित्व सौंपने की प्रस्तावना रखी थी । तब शायद इस बात की कल्पना भी नहीं की गई थी कि ज्ञान के वर्गीकरण की उस प्रस्तावना को कियान्वित करने के बाद शिक्षा तो विभिन्न स्तरों में बंट जायेगी, समाज में भी वर्गभेद पैदा हो जायेंगे जो आगे चलकर वर्ग संघर्ष के लिए भूमि को उर्वर बनाने का काम करेंगे ।

हिन्दुस्तान में जो शिक्षा कभी आत्म विकास या विमुक्ति या सर्वतोमुखी व्यक्तित्व निर्माण हेतु दी जाती थी, पूंजीवादी व्यवस्था ने उसके सरोकार ही बदल कर रख दिये । कारनॉय कहते हैं – ''यदि हम यह मानें कि समाज का प्राथमिक कार्य अधिकतम भौतिक वस्तुओं का उत्पादन है तो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूंजीवाद ही उपयुक्त आर्थिक व सामाजिक संगठन है और स्कूली शिक्षा विकास के लिए उत्पादन शक्ति तब तक बनी रहेगी, जब तक वह उत्पादन प्रक्रिया के उपयोग के लिए मानवीय पूंजी उत्पन्न करती रहेगी ।'' वे मानते हैं कि जब कोई बच्चा स्कूल जाता है तो निश्चय ही वह आर्थिक और सामाजिक साधन सुविधाओं के वितरण में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने लग जाता है परन्तु शर्त यह है कि उसके साथ के अन्य बच्चे स्कूल पढ़ने के लिये न जा रहे हों। क्योंकि भौतिक संसाधनों तक उसकी पहुंच तभी बढ़ती है जब उसकी प्रतियोगिता में अधिक बच्चे नहीं होते । प्रमाण के लिए इस तथ्य को ध्यान में रखा जा सकता है कि पिछले कुछ वर्षों से जिस गति से स्कूली शिक्षा का विस्तार हुआ है उस गति से संवृद्धि की दरों में इजाफा नहीं हुआ है । किन्तु इसका यह परिणाम अवश्य हुआ है कि विभिन्न रोजगारों में लगे मजदूरों में अधिक स्कूली शिक्षा प्राप्त श्रमिक पहले से बढ़ गये हैं और बेरोजगारों में भी शिक्षा का औसत स्तर बढ़ गया है । इसलिये यह मानना पूरी तरह युक्तियुक्त नहीं है कि स्कूली शिक्षा में किया गया निवेश प्रति व्यक्ति अधिक आय की गारन्टी होता है । जिमलमैन इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं- ''औपचारिक शिक्षा और उत्पादकता में उतना अधिक घनिष्ट संबंध नहीं है जितना उत्पादकता और उद्योगों के ढांचे में है, अर्थात जिस उद्योग में कुशल श्रमिकों की संख्या अधिक होगी उसकी उत्पादकता निश्चय ही अधिक होगी, चाहे उसके श्रमिक किसी अन्य उद्योग में कार्यरत श्रमिकों से शिक्षा में कितने ही कम क्यों न हों । जाहिर है कि जिन विशेष कौशलों का उत्पादन से सीधा संबंध होता है उनका ज्ञान स्कूली शिक्षा की अपेक्षा काम के दौरान दिये जाने वाले प्रशिक्षण के जरिये अधिक अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है । इसलिये यह मान लेना कदापि उचित नहीं है कि स्कूल ही एकमात्र वह स्थान है जहां व्यवसायिक कौशलों का विकास किया जाता है । यह स्कूलों का एकमात्र काम है भी नहीं।''

वैसे भी शिक्षा को आय के समान वितरण का साधन मानना गलत है क्योंकि इसका आधार माता-पिता की शिक्षा और आमदनी होता है । सुशिक्षित धनिकों के बच्चे आरंभ से ही बाजार की दृष्टि से उच्च स्तर की शिक्षा प्राप्त करते हैं । और इसकी समाप्ति के बाद अच्छे पद पा लेते हैं या मुनाफे वाले व्यवसायों में चले जाते हैं जबकि अल्प आय वाले अभिभावकों के बच्चे पढ़ लिखकर भी उनकी बराबरी नहीं कर पाते । इसी प्रकार स्कूली शिक्षा के लाभ हानि को आकलन करने का जो तरीका प्रचलित है वह भी गलत है क्योंकि इसमें शिक्षितों पर होने वाले समाज के खर्चे और बदले में प्राप्त होने वाली आमदनी की तुलना ही की जाती है उन लोगों की सामाजिक, मानसिक हानियों और पीड़ाओं का कोई हिसाब नहीं होता जो स्कूली शिक्षा से वंचित रह जाते हैं । यदि इसे भी जोड़ दिया जाय तो जाहिर है स्कूली शिक्षा से दिखाया जाने वाला लाभ बहुत कम हो जायेगा। वास्तविकता यह है कि पूंजीवादी समाजों में खुली शिक्षा शहरी गरीबों के थोड़े प्रतिशत को और ग्रामीण गरीबों के और भी थोड़े प्रतिशत को उच्चतर स्तर पर पहुंचने में सहायक तो अवश्य बनती है तथा यह असहमति और मौलिक चिंतन के अवसर भी देती है । जिससे सामाजिक परिवर्तन की राह साफ होती है लेकिन ये उसके मुख्य लक्ष्य नहीं उपउत्पाद (बाई प्रोडेक्ट) होते हैं ।

यद्यपि योरोपीय और अमरीकी स्कूली शिक्षा लोगों को पारम्परिक श्रेणीगत सोपान से बाहर निकालती है लेकिन वहां से बाहर निकालकर वह उन्हें पूंजीवाद के श्रेणीगत सोपान में फिट कर देती है । इसमें मुक्ति के तत्व होते हैं लेकिन पराधीनता और अलगाव के तत्त्व भी होते हैं । गांव के एक किसान का लड़का पढ़ लिख कर जब शहर में नौकरी करने लगता है तो वह गांव के अपने वर्ग या श्रेणी को छोड़ देता है लेकिन शहरी व्यवस्था की श्रेणी में अनायास ही फिट हो जाता है । स्कूल वे परिस्थितियां उत्पन्न नहीं करता जिनमें विद्यार्थी बिना किसी मदद के स्वयं को मुक्त करना आरंभ कर सके । इसके विपरीत स्कूल कितनी मात्रा में मुक्ति के अवसर प्रदान करे, इसका नियंत्रण उनके हाथों में रहता है जो समाज के लक्ष्यों को निर्धारित करने की क्षमता रखते हैं ।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नकारात्मक पक्षों के बावजूद स्कूली शिक्षा में विश्व ने कालों, पीलों, भूरों एवं गरीब गोरों को अन्तत: अज्ञान और पिछड़ेपन के अंधेरों से निकाल कर आधुनिक विश्व की मुख्य धारा में शामिल होने का अवसर दिया है किन्तु सचाई यह है कि ऐसा करना भी स्कूली शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य कभी नहीं रहा है । शक्तिशाली आर्थिक समूहों ने अपने वर्गीय स्वार्थ से प्रेरित होकर विधि निर्माण तथा राजनायिक सत्ता का सहारा लेकर सदा स्कूली शिक्षा का उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया है । तभी तो पाओलो फ्रेरे कहते हैं - ''स्कूली शिक्षा का सबसे खतरनाक तत्त्व है लोगों को चुप रखने का प्रयास। ऐसा करके ही वह अयुक्तिसंगत को युक्तिसंगत ठहराती है और उत्पीड़न पर आधारित सामाजिक संरचना को मान्यता प्रदान करती है ।''

शिक्षा को विकास की धुरी मानकर शिक्षा के सार्वजनीनीकरण की वकालत करने वाले लोगों का मत है कि पूंजीवाद का विस्तार ही विकास को बढ़ावा दे सकता है, अन्य कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जिसमें विकास को उद्दीपन देने की क्षमता हो । विकास का यह पूंजीवादी मत पूंजीवाद को साम्राज्यवाद का प्रतिवाद मानता है । इसकी यह भी मान्यता है कि मुक्त व्यापार और पूंजी और श्रम के बेरोकटोक आवागमन से एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व स्थापित करने की संभावना घट जाती है । जहां शिक्षा पूंजीवादी आधुनिक समाज के निर्माण में सहायता देती है वह साम्राज्यी संबंधों के विनाश में और एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व स्थापित करने के मन्सूबों को भी रोकती है । विश्व बाजार में अपना अस्तित्व बनाये रखने और आगे बढ़ने के प्रयास में राष्ट्र इतने व्यस्त रहते हैं कि वे किसी पर हमला कर अपने सीमा विस्तार की बात सोच भी नहीं पाते। परन्तु पूंजीवादी विकास का खंडन करने वाले लोगों का मत है कि पूंजीवाद क्रमश: एकाधिकार और साम्राज्यवाद की दिशा में विकसित होता है और शिक्षा का उपयोग राष्ट्रों के मध्य साम्राज्यी संबंध कायम रखने के लिए किया जाता है ।

विकास की पूंजीवादी अवधारणा के परिणामों को ब्रिटेन और भारत के मध्य चली अन्तर्क्रियाओं में देखा जा सकता है । इन दोनों देशों के बीच व्यापारिक संबंध उन्नीसवीं सदी के मध्य से आरंभ हुए परन्तु उनका लाभ निरन्तर ब्रिटेन को मिलता रहा । भारत की भूमि के बड़े हिस्से पर जूट और कपास की खेती की गई जिससे अन्न का उत्पादन कम हो गया । परिणामस्वरूप इस देश को बंगाल में न केवल अकाल और भुखमरी का सामना ही करना पड़ा बल्कि अपनी खाद्य आपूर्ति के लिए यह परमुखापेक्षी भी बन गया । दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूंजीवाद ने आद्यौगीकरण के आधार पर विश्व के राष्ट्रों को गरीबों और अमीरों में बांट दिया । औद्योगिक उत्पादक राष्ट्र आगे बढ़ते गये और प्राथमिक उत्पादक पिछड़ते चले गये । इसका एक कारण ऐसी शिक्षा पद्धति विकसित कर प्रचलित करना भी था जो लोगों को ऐसे आर्थिक सामाजिक शिकंजे में जकड़ दे जिससे विकसित देशों के निगम अधिक प्रभावशाली ढंग से उनका शोषण करते रह सकें । कहने को तो योरोपीय शक्तियों ने शिक्षा को परिवर्तन का औजार बताया लेकिन अनुमति उन्हीं परिवर्तनों को दी जो भारत और अफ्रीका के राष्ट्रों पर उनके प्रभाव को सुदृढ़ और शोषण को सहज बनाते थे । आज भी उनके द्वारा बनाई गई शिक्षानीति, राजनैतिक रूप से स्वाधीन हुए भारत और अफ्रीका में प्रचलित है और इन देशों के लोग पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों का परित्याग नहीं कर पा रहे हैं ।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के प्रगतिशील विचारक और विख्यात शिक्षाशास्त्री मार्टिन कारनॉय जो आजकल स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा और अर्थशास्त्र के प्राध्यापक हैं, अपने अकाट्य तर्कों से उन मिथकों को तोड़ते हैं जो आज भी तीसरी दुनिया के शिक्षाविदों को भरमा रहे हैं । वे सिद्ध करते हैं कि - (1) शिक्षा ने मनुष्य को दासता से मुक्त कराने की बजाय उपनिवेशीकरण को स्थायित्व देने का काम किया है । (2) शिक्षा ने परिवर्तन की अपेक्षा यथास्थिति बनाये रखने में अधिक योगदान दिया है । (3) शिक्षा ने किसी भी देश की समृद्धि में लोगों को समान भागीदारी दिलाने की बजाय असमानता बनाये रखने में सहायता की है । (4) शिक्षा के लक्ष्यों में बदलाव मानव जीवन में बेहतरी लाने के लिये नहीं निहित स्वार्थों की स्वार्थ सिद्धि हेतु हुए हैं । (5) शिक्षा और विकास का गठजोड़ आम आदमी के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिये नहीं, उपभोक्ता संस्कृति को विस्तार देने के लिये हुआ है । ◆